जैन धर्म का मूलाधार : सम्यग्दर्शन

डॉ. प्रेमसिंह राठौड़

जैसे अणुरूप बीज में विराट वृक्ष होने की शक्ति है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब उसे अनुकूल पानी, प्रकाश और पवन की उपलब्धि होती है। साधना के क्षेत्र में भी यही सत्य है कि आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो रही है। इस शक्ति की अनुभूति और अभिव्यक्ति को साधना कहा जा सकता है। इसकी प्राप्ति के लिए जैन दर्शन में रत्नत्रयी की साधना का विधान किया गया है। रत्नत्रयी का अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति। वस्तुतः यही मोक्षमार्ग है।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" —त. सू. १-१

यहां मार्ग का अर्थ पंथ एवं रास्ता नहीं है, बल्कि मार्ग का अर्थ है साधन एवं उपाय। मोक्ष का मार्ग कहीं बाहर में नहीं है, वह साधक के अन्तर चैतन्य में ही है, उसकी अन्तरात्मा में ही है।

सम्यग्दर्शन आत्मसत्ता की आस्था है। जड़ और चैतन्य का भेद करना ही सम्यग्दर्शन का वास्तविक उद्देश्य है। जिसे आत्म-बोध और चेतना का बोध हो जाता है, वही आत्मा यह निश्चय कर सकती है कि मैं शरीर नहीं हूं, मैं मन नहीं हूं क्योंकि यह सब कुछ भौतिक एवं पुद्गलमय है। इसके विपरीत मैं चैतन्य हूं, आत्मा हूं तथा अभौतिक हूं, जड़ से सर्वदा भिन्न हूं, मैं ज्ञान स्वरूप हूं एवं पुद्गल कभी ज्ञान स्वरूप नहीं हो सकता है। जबकि आत्मा और पुदगल में इस प्रकार मूलतः स्व-स्वरूपतः विभेद है। तब दोनों को एक मानना अध्यात्मक्षेत्र में सबसे बड़ा अज्ञान है और सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। यह अज्ञान और मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन मूलक सम्यग्ज्ञान से भी दूर हो सकता है। साधक को यही समझना है कि आत्मा में अनन्तकाल से जो पुद्गल के प्रति ममता है, उस ममता को दूर कर दिया जाय तो फिर वे आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं। सम्यक्ज्ञान का अर्थ है आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान। आत्म-विज्ञान की उपलब्धि होने के बाद अन्य भौतिक ज्ञान के अभाव में भी आत्मा का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। ज्ञान की अल्पज्ञता भयंकर नहीं है, उसकी अज्ञानरूप विपरीतता ही भयंकर है। आत्म-ज्ञान यदि कण-भर है तो वह मन भर भौतिक ज्ञान से भी अधिक श्रेष्ठतर है, श्रेष्ठतम है। आत्म-साधना में ज्ञान की विपुलता अपेक्षित नहीं है, किन्तु ज्ञान की विशुद्धता अपेक्षित है। प्रतीति और उपलब्धि के साथ आचरण आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य ही है। जैन दर्शन कहता है कि विश्वास को विचार में बदलो और विचार को आचार में बदलो, तभी साधना परिपूर्ण होगी। अध्यात्मवादी दर्शन में जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य "स्व-स्वरूप की उपलब्धि, स्व-स्वरूप में लीनता और स्व-स्वरूप में रमणता है। शास्त्र की परिभाषा में इसी को भाव-चारित्र कहा है। जीवन विकास के लिए द्रव्य और भाव दोनों की आवश्यकता है।

मनुष्य क्या है ? वह अपने विश्वास, विचार और आचार का प्रतिफल है। दृष्टि की विमलता से ही जीवन अमल और धवल बनता है। यही कारण है कि जैन दर्शन में विचार और आचार के पहले दृष्टि की विशुद्धि पर विशेष लक्ष्य और बल दिया गया है। उपाध्याय यशोविजयजी "अध्यात्मसार" के चतुर्थ प्रबन्ध द्वादश अध्याय सम्यक्त्वाधिकार में लिखते हैं—

> मनःशुद्धिश्चसम्यक्त्वे, सत्येव परमार्थतः।
> तद्विना मोहगर्भासो प्रत्यपायानुबंधिनी ॥१॥

(सम्यक् गुण होने पर ही परमार्थ से मन की शुद्धि होती है, सम्यक्त्व के अभाव में मनशुद्धि मोहगर्भित होती है, जो कष्ट-बंधन-कारी होती है)।

> सम्यक्त्व सहिता एवं शुद्ध दानादि काः क्रियाः।
> तासां मोक्षफले प्रोक्ता, यदस्य सहकारिता ॥२॥

(दानादि क्रिया सम्यक्त्व सहित होने पर ही शुद्ध होती है, मोक्ष फल प्राप्ति में सम्यक्त्व सहायक है)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुर्वाणोपि क्रियां ज्ञाति धन भोगांस्त्यजन्नपि ।
दुःखस्योरो ददानोपि, नांधा जयति वैरिणम् ।।३।।

(सब क्रियाएं करता हो, जाति, धन और भोग का त्याग करता हो, परन्तु जैसे अंधा व्यक्ति शत्रु को जीत नहीं सकता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती)।

कुर्वन्निर्वृत्ति मप्येवं कामभोगोस्त्य जन्नपि ।
दुखः स्पोरोददानोपि मिथ्यादृष्टिर्नसिध्यति ।।४।।

(संतोष धारण किया हो, कामभोग का त्याग किया हो और दुःख को सहन करता हो, परन्तु अगर मिथ्यादृष्टि हो तो सिद्धि प्राप्त नहीं होती)।

कनी निकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वामुच्यते सारः सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ।।५।।

(नेत्र का सार उसकी कीकी, पुष्प का सार जैसे सुगन्ध, ऐसे ही सब धर्मों का सार सम्यक्त्व है)।

तत्वश्रद्धान मेतच्च गदितं जिन शासने ।
सर्वे जीवा न हंतव्या सूत्रे तत्व मितीष्यते ।।६।।

(तत्व में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है, ऐसा जिनशासन में कहा है। सब जीवों की हिंसा नहीं करना, यह तत्व है, ऐसा सूत्र में कहा है।)

सम्यक् दर्शन को किसी नदी, समुद्र, देवी-देवता, पर्वत, चांद-सूरज आदि की धारणा विशेष के साथ बांध देना जैन दर्शन की मूल प्रक्रिया से हट जाना है। जड़-सत्ता पर विश्वास करना सम्यग्दर्शन नहीं है, बल्कि चैतन्य-शक्ति पर विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन है।

"नादंसणिस्स नाणं" —उत्त० २८-३०

सम्यक्त्व के बिना ज्ञान नहीं होता। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र की साधना का महल, शंकाओं, अंधविश्वासों आदि के जरासे अंधड़ से ढह जावेगा।

ब्रह्मसमाज के विख्यात तत्ववेत्ता केशवचन्द्र ने एक बार श्री रामकृष्ण से पूछा—"लोग चाहे जितने उच्च कोटि के विद्वान क्यों न हों, फिर भी वे मायाजाल में फंसे ही रहते हैं।" इसका कारण क्या है? श्री रामकृष्ण ने उपमा देते हुए समझाया—"चीलें आकाश में बहुत ऊंचाई तक शुद्ध वायुमंडल में उड़ती रहती हैं, लेकिन उनकी नजर नीचे पड़े हुए मृत प्राणी के मांस और हड्डी पर रहती है। इसी तरह चाहे हम कितनी ही ऊंची किताबें पढ़ लें, लेकिन जब तक हमारी नजर साफ और सही नहीं होगी, तब तक हम काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि के मायाजाल में फंसे रहेंगे। कोरी विद्या पढ़ने से सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं होता, उसके लिए सम्यग्दृष्टि चाहिए।

सम्यग्दृष्टि का आचार पाप प्रधान नहीं होता। आचारांग सूत्र में कहा है—"समत्तदंसी न करेइ पावं।" सम्यग्दर्शन के दिव्य आलोक में बाह्य दुःखों के बीच भी आंतरिक सुखों का अजस्र स्रोत फूटेगा। सम्यग्दृष्टि आत्मा प्रतिकूलता में भी अनुकूलता का अनुभव करता है और मिथ्यादृष्टि आत्मा अनुकूलता में भी प्रतिकूलता का अनुभव करता है। सम्यक्त्व धर्म के प्रभाव से नीच से नीच पुरुष भी देव हो जाता है और उसके अभाव में उच्च से उच्च भी अधम हो जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्न-करण्डक में कहा है—

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपिमातंग देहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढ़ागारान्त रौजसम् ।।

(चांडाल के शरीर से पैदा हुआ व्यक्ति भी सम्यग्दर्शन सम्पन्न हो तो देवता उसे राख में छिपे हुए अंदर से तेजस्वी अंगारों की तरह दिव्यदृष्टि देव कहते हैं)।

भारतीय दर्शन का कथन है कि—"जब तक मर्त्य और अमृत अंशों को ठीक से नहीं समझा जायगा एवं उसका सम्यक् विकास नहीं किया जावेगा, तब तक मनुष्य अपूर्ण ही रहेगा। अध्यात्मवादी मनुष्य शरीर की सत्ता से इन्कार नहीं करता, उसकी विवेकदृष्टि शरीर के अन्दर स्थित दिव्य अंश का भी साक्षात्कार करती है। आत्मवादी के जीवन में भोग-विलास आदि का भी अस्तित्व रहता है, किन्तु इनकी प्राप्ति एवं उपभोग ही उसके जीवन का साध्य नहीं बनता, भोग से योग की ओर अग्रसर होने में ही उसकी सफलता है। वह सदा अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का विश्वास लेकर चलता है—"आरोह तमसो ज्योति"।

श्रमण साहित्य के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में भी सम्यग्दर्शन की महिमा कम नहीं है। वहां ऋत, सत्य, समत्व आदि शब्दों से इसी ओर इंगित किया गया है। सम्यग्दर्शन शब्द प्रयुक्त हुआ है, परन्तु बहुत ही कम। गीता में कहा है—"समत्वं योग उच्यते"—समत्व सबसे बड़ा योग है। महर्षि मनु ने लिखा है—

सम्यग्दर्शन संपन्न कर्मभिर्न निबध्यते
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते। —मनुसंहिता

(सम्यग्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति कर्मबद्ध नहीं होता, संसार में परिभ्रमण वही करता है जो सम्यग्दर्शन विहीन होता है)।

सम्यक्त्वी साधक उपशम से क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से माया को, संतोष से लोभ को, समभाव से ईर्ष्या को, प्रेम से घृणा को जीतने का अभ्यास करता है। इन पर विजय पाना ही सम्यक्त्वी की प्राथमिक साधना है। सम्यक्त्वी भाषा, प्रदेश, जाति, धर्म, अर्थ, शास्त्र, पंथ आदि किसी भी क्षेत्र में आवेश, आग्रह या पक्षपात के वशीभूत नहीं होता है। अध्यात्मवादी व्यक्ति का जीवन ऊर्ध्वमुखी होता है और भोगवादी व्यक्ति का जीवन अधोमुखी होता है। अपामार्ग एक औषधि होती है, उसे औंधा-कांटा भी कहते हैं। उसमें कांटे भरे रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने हाथ से उसको पकड़ कर अपने हाथ को उसके नीचे की ओर ले जाय तो उसका हाथ कांटों से छिलता चला जाएगा, उसका हाथ लहु-लुहान हो जायगा और यदि उस टहनी को पकड़ कर अपने हाथ को नीचे से ऊपर की ओर ले जाय तो उसके हाथ में एक भी कांटा नहीं लगेगा। यह जीवन का एक मर्म भरा रहस्य है। सम्यग्दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मिथ्यादृष्टि के जीवन में यही सब कुछ घटित होता रहता है। मिथ्यादृष्टि अधोमुखी है, वह संसार और परिवार के सुख-दुखात्मक हजारों-हजारों कांटों से बिंधता रहता है और छिलता रहता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि इस संसार व परिवार में ऊर्ध्व बन कर रहता है, जिससे संसार के सुख-दुःखात्मक अपामार्ग के कांटों का उसके अध्यात्म-जीवन पर जरासा भी प्रभाव नहीं पड़ पाता। अध्यात्म-जीवन की यह सबसे बड़ी कला है। अध्यात्मशास्त्र में जीवन की इस कला को सम्यग्दर्शन कहा है। मिथ्यादृष्टि आत्मा स्वर्ग में ऊंचा चढ़ कर भी नीचे गिरता है और सम्यग्दृष्टि आत्मा नीचे नरक में जाकर भी अपने ऊर्ध्वमुखी जीवन के कारण नीचे से ऊंचे की ओर अग्रसर होता रहता है। यह सब कुछ दृष्टि का खेल है। दृष्टि का भेद है। सम्यग्दर्शन वह निर्मल धारा है, जिसमें निमज्जित होकर साधक अपने मन के मैल को धो डालता है। हमारे जीवन के आदि में सम्यग्दर्शन हो, मध्य में सम्यग्दर्शन हो और अंत में सम्यग्दर्शन हो, तभी हमारा जीवन मंगलमय होगा।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अर्थ यह नहीं है कि पहले कभी दर्शन नहीं था और अब नया उत्पन्न हो गया है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का अर्थ इतना ही है कि आत्मा का जो दर्शन गुण आत्मा में अनन्तकाल से था, उस दर्शन गुण की मिथ्यात्व पर्याय को त्याग कर आपने उसकी सम्यक् पर्याय को प्रकट कर लिया है। भगवान की वाणी, गुरु का उपदेश और शास्त्र का स्वाध्याय साधक के जीवन में कोई नया तत्व नहीं उड़ेलते, बल्कि जो कुछ ढंका हुआ होता है, उसी को प्रकट करने में सहायता करते हैं।

सम्यग्दर्शन का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से किया गया है। किसी ग्रन्थ में जीव आदि नव पदार्थों के अथवा जीव आदि सात तत्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। किसी ग्रन्थ में आप्त, आगम और धर्म के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। किसी ग्रन्थ में स्व पर विवेक को अथवा भेद विज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। व्याख्या और परिभाषा भिन्न होने पर भी उनमें केवल शाब्दिक भेद ही है, लक्ष्य सबका एक ही है, जड़ से भिन्न चेतन सत्ता पर आस्था रखना। सम्यग्दर्शन एक प्रकार से विवेक रवि है जिसके उदय होने पर मिथ्यात्व का घोर अंधकार रह नहीं पाता। सम्यग्दर्शन न तो किसी जाति का धर्म है न किसी राष्ट्र का धर्म है और न वह किसी पंथ विशेष का धर्म है, वह तो एक मात्र आत्मा का धर्म है।

सम्यग्दर्शन की परिभाषा के तीन प्रकार उपलब्ध हैं—तत्वार्थ श्रद्धान, देव-गुरु-धर्म पर विश्वास और आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान। तत्वार्थ श्रद्धान दार्शनिक जगत की वस्तु, भेद-विज्ञान अध्यात्म शास्त्र का विषय रहा और देव-गुरु-धर्म पर विश्वास यह संप्रदाय संबंधी दर्शन रहा। किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से आत्म-अनात्म का भेद विज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। इसके अभाव में न तो तत्वों पर श्रद्धा होती है और न देव-गुरु-धर्म पर विश्वास। यह बात ध्यान देने योग्य है कि देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा का सिद्धान्त सुन्दर और उदार होते हुए भी, उसका उपयोग जब पंथ तथा संप्रदायवाद की पुष्टि में किया जाता है तो आत्म-गुणों के विकास में बाधा उत्पन्न होती है। अन्तर्दृष्टि के स्थान पर बाह्यदृष्टि को प्रधानता मिलती है।

सामान्यतः कर्म-सिद्धान्त के अनुसार सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति दर्शन मोहनीय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण उदय में नहीं आने से होती है। उत्पत्ति के निमित्त कारणों को ध्यान में रख कर सम्यग्दर्शन के दस भेद उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार बतलाए हैं—

निसग्गुवएसरूई, आणारूई, सुत-बीयरूइमेव।

अभिगम-वित्थाररूई, किरिया-संखेव-धम्मरूई॥ उत्त. २८-१६

(निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि)

स्थानांगसूत्र (१०-७५१) और प्रज्ञापना (पद १, सूत्र ७४) में भी इन भेदों का इसी प्रकार उल्लेख मिलता है। परन्तु यहां सम्यग्दर्शन के धारक सम्यग्दृष्टि के प्रथमतः "सराग" और "वीतराग" के भेद से दो भेद करके सराग-सम्यग्दृष्टि के उपरोक्त दस भेद बतलाए हैं।

आचार्य गुणभद्र रचित "आत्मानुशासन' में भी दस भेद बतलाए हैं, परन्तु वहां पर उनके साथ रुचि शब्द नहीं जोड़ा गया है तथा उनके नाम एवं क्रम में भी कुछ अन्तर है—

आज्ञामार्ग समुद्भवमुपदेशात् सूत्र बीज संक्षेपात्

विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढ़, परमावादिगाढ़े च॥

—आत्मानुशासन श्लोक ११

(आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़)।

निमित्त कारण की विविधता के कारण यद्यपि सम्यग्दर्शन के अनेक भेद हो सकते हैं तथापि उत्पत्ति के प्रति निमित्त कारण की अपेक्षा और अनपेक्षा की दृष्टि से संक्षेप में दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—१. निसर्गज सम्यग्दर्शन (जो सम्यग्दर्शन बिना किसी पर-संयोग एवं बाह्यनिमित्त से प्रकट होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन)। २. अधिगमज सम्यग्दर्शन (इसमें शास्त्र, स्वाध्याय आदि किसी पर–संयोग की आवश्यकता होती है। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में बतलाया है—

"तन्निसर्गादधिगमाद्वा" —त. सूत्र १-३

(वह सम्यग्दर्शन निसर्ग अर्थात् परिणाम मात्र से अथवा अधिगम-बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है)।

यदि उपर्युक्त दस भेदों को इन दो भागों में विभक्त किया जाय तो निसर्गरुचि को छोड़ कर शेष सभी पर-सापेक्ष हैं। इसके अतिरिक्त कर्मों के क्षय, उपशम और क्षयोपशम के भेद से सम्यग्दर्शन के अन्य तीन भेद भी कहे हैं —

कर्मणा क्षयतः शान्ते, क्षयोपशम तस्तथा, श्रद्धानं त्रिविध बोध्यं।

—यशस्तिलक चंपू पृ. ३२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को "बोधिलाभ" भी कहा है---

"सम्मद्दंसणरत्ता...सुलहा तेसिंभवे बोहि"--उत्त. ३६-२५८

प्रत्येक वस्तु को जानने के लिए लक्षण की आवश्यकता होती है। सम्यग्दर्शन के पांच लक्षण व्यवहार नय की दृष्टि से बतलाए गए हैं। निश्चय नय से तो स्व-स्वरूप पर आस्था होना ही सम्यग्दृष्टि का वास्तविक लक्षण है। पांच लक्षण हैं---प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य।

१. **प्रशम**--कषाय की मंदता ही वस्तुतः प्रशम है। एक व्यक्ति क्रोध आने पर भी जब शान्त रहता है तब समझना चाहिये कि उसमें प्रशम गुण हैं। लोभ, मान, और माया के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समझना चाहिये। कषाय के उदयकाल में कषाय का उपशम करना सहज और आसान काम नहीं है। यह अपने आप में बहुत बड़ा तप है और एक बड़ी साधना है। विकार का कारण रहते हुए भी विकार की अभिव्यक्ति न होने देना यह आत्मा का असाधारण गुण है। इस गुण को प्रशम कहते हैं।

२. **संवेग**--आत्मा के ऊर्ध्वमुखी भाव-वेग को ही संवेग कहा जाता है। संवेग का दूसरा अर्थ है भव-भीति। संवेग का तीसरा अर्थ है भव-बंधन से मुक्त होने की अभिरुचि, संसार के पदार्थों में अभिरुचि का अभाव और मोक्ष में अभिरुचि का भाव, जब जीवन में साकार हो जाता है तो समझना चाहिये कि उस जीवन में सम्यग्दर्शन के पीयूष की वर्षा हो रही है। संवेग से क्या प्राप्त होता है, इसके उत्तर में कहा गया है--"संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ......सोहिए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ (उत्त. २९-२:)। संवेग से जीव अनुत्तर-धर्म-श्रद्धा को प्राप्त होता है। परम धर्म श्रद्धा से शीघ्र ही संवेग आता है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय होने से मिथ्यात्व विशुद्धि कर दर्शन का आराधक होता है। दर्शन विशुद्धि के कारण विशुद्ध हो कर कई एक जीव उसी जन्म में सिद्ध होते हैं और कुछ हैं जो दर्शनविशुद्धि से विशुद्ध होने पर तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते हैं।

३. **निर्वेद**--इसका अर्थ है वैराग्य, विरक्ति और अनासक्ति निर्वेद से जीव देव, मनुष्य और तिर्यंच-संबंधी काम-भोगों से शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

४. **अनुकंपा**--अनुकंपा, दया और करुणा इन तीनों का एक ही अर्थ है। करुणा और दया का अर्थ है--हृदय की वह सुकोमल भावना जिससे व्यक्ति अपने दुःख से नहीं बल्कि दूसरे के दुःख से द्रवित हो जाता है। जो समर्थ व्यक्ति अपने जीवन में किसी के आंसू न पोंछ सका, वह व्यक्ति किसी भी प्रकार की धर्म-साधना कैसे कर सकता है? सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में अनुकंपा एक अनिवार्य कारण है।

५. **आस्तिक्य**--आस्तिक्य का अर्थ है विश्वास। पुद्गल में नहीं आत्मा में ही विश्वास होना चाहिये। जिसका विश्वास अपनी आत्मा में है, उसका विश्वास कर्म में भी होगा, परलोक में भी होगा और मुक्ति में भी होगा। आत्म-विश्वास ही सबसे बड़ा सम्यग्दर्शन है।

यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि किस बिन्दु से साधना प्रारम्भ करें। उत्तर यही है कि किसी भी सम्यक् बिन्दु से आरंभ की हुई साधना साध्य की परम ऊंचाई को प्राप्त कराती है, क्योंकि भीतर में साधना की जड़ें प्रत्येक महानता से जुड़ी हुई हैं। ये पांचों या इनमें से कोई भी एक लक्षण यदि मिलता है तो समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है।

सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार बतलाये गये हैं। अतिचार का अर्थ है किसी भी प्रकार की अंगीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना। आत्म-विशुद्धि का जो अंश जागृत किया है, उसको दूषित करना अतिचार कहा जाता है। पांच प्रकार के अतिचार हैं---

१. **शंका**--शंका रहते हुए न जीवन का विकास हो सकता है और न अध्यात्म-साधना में सफलता ही मिलती है। "संशयात्मा विनश्यति" (गीता)। इस उक्ति के अनुसार संशयी अपनी शक्ति एवं स्वयं का नाश करता है। परन्तु ज्ञान प्राप्ति एवं तत्व निर्णय के लिये जो शंका की जाती है, वह अतिचार की कोटि में नहीं आती है--"न संशयमनारुध्य नरो भद्राणि पश्यति"।

किन्तु एक बार जब किसी तत्व का सम्यक् समाधान हो जाता है और जब सम्यक् प्रकाश से स्वीकृत सिद्धान्त को जीवन में साकार करने का प्रसंग उपस्थित होता है, उस समय साधना में जो शंका एवं संशय उपस्थित होता है, वह साधक के जीवन की सबसे बुरी स्थिति है। उस स्थिति से बचने के लिये साधक को चेतावनी दी गई है। संशय साधना में एक प्रकार का विष है।

२. **कांक्षा**--किसी-किसी ग्रन्थ में कांक्षा के स्थान पर आकांक्षा शब्द का भी प्रयोग किया गया है। दोनों का एक ही सामान्य अर्थ है--इच्छा और अभिलाषा। परन्तु यहां पर इसका एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। जब एक साधक किसी अन्य व्यक्ति की पूजा और प्रतिष्ठा को देखकर, उसके वैभव और विलास को देख कर अपनी साधना के प्रति आस्था छोड़ देता है और पूजा एवं प्रतिष्ठा की अभिलाषा करता है, यही कांक्षा है। जो सिद्धान्त, साधना तथा क्रियाकांड सम्यक्त्व के परिपोषक न हों, वे सभी पर-धर्म हैं।

३. **विचिकित्सा**--विचिकित्सा का अर्थ है फल की प्राप्ति में संदेह करना। विचिकित्सा साधक की निष्ठा शक्ति को दुर्बल बनाती है। इससे बचने का एक ही उपाय है कि मन में फल की आकांक्षा किये बिना अपनी साधना को निरन्तर करते रहना। यही साधना का एकमात्र राजमार्ग है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"--गीता के इस सिद्धान्त को जीवन में व्यवहृत करने से विचिकित्सा नहीं पनप सकती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४.–५. **मिथ्यादृष्टि प्रशंसा और मिथ्यादृष्टि संस्तव**––प्रशंसा का अर्थ है किसी की स्तुति करना, किसी के गुणों का उत्कीर्तन करना। संस्तव का अर्थ है किसी का परिचय करना, किसी से मेलजोल बढ़ाना। प्रश्न यह है कि यहां पर प्रशंसा और संस्तव को अतिचार दोष और दूषड़ क्यों माना गया है? मनुष्य के मन पर संगति और वातावरण का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। एक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति की संगति और वातावरण में रहने वाला व्यक्ति कभी न कभी अपने मार्ग को छोड़ कर उसके रंग में रंग जावेगा। पाषंड़ शब्द के विविध ग्रन्थों में विविध अर्थ किये गये हैं। एक अर्थ है पथ भ्रष्ट व्यक्ति, दूसरा अर्थ है पंथ एवं सम्प्रदाय और तीसरा अर्थ है व्रत। सम्यक्त्वी की साधना भोग-प्रधान नहीं होती है। इंद्रियों और विषयों के संयोग से प्राप्त होने वाले सुख परापेक्षी होने से "पर" कहलाते हैं। इन सुखों की आकांक्षा से किये गये व्रत "पर-पाषंड" हैं। आचार्य हरिभद्र ने पाषंड शब्द का अर्थ व्रत किया है–"पाखण्ड व्रत मिथ्याहु"। ऐसे व्रत को स्वीकार करने वाले परपाखंडी कहलाते हैं। पर-पाखंडी धर्मविहीन होते हैं और इन्द्रियों के सुख को महत्व देते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि आत्म-दर्शन करना चाहता है। दोनों के साध्य भिन्न होने से सम्यक्त्वी न तो परपाखंड रूप व्रतों को स्वीकार करता है और न परपाखंडी की प्रशंसा ही करता है।

सम्यक्त्व के दोषों का वर्णन करते समय यह कहा गया है कि अतिचारों को समझो अवश्य पर उनका आचरण भूल कर भी नहीं करना। पाप को समझना तो आवश्यक है, किन्तु उसका आचरण नहीं करना चाहिये, उसका समझना इसलिए आवश्यक है कि हम समय पर उस पाप से बच सकें।

जिस व्यक्ति में सम्यग्दर्शन होता है उस व्यक्ति का आचरण कैसा होता है। शास्त्रीय भाषा में इसे दर्शनाचार कहते हैं।

> निस्संकिय निक्कांखिय, निव्वीत्तिगिच्छा अमूढ़दिट्ठीय।
> उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ।। उत्त. २८-३१

(नि:शंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपवृहंण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना–ये आठ सम्यक्त्व के अंग हैं)।

१. **नि:शंकता**–इसका अर्थ है सर्वज्ञ और वीतराग की वाणी में किसी प्रकार की शंका नहीं करना। जीवन में सत्य के प्रति अगाध आस्था ही वस्तुतः नि:शंकता है।

२. **निष्कांक्षता**–निष्कांक्षता का अर्थ है किसी भी प्रकार के अविहित एवं मर्यादाहीन भोग पदार्थ की इच्छा और अभिलाषा न करना। साधना की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि मन में किसी भी पदार्थ के प्रति साधना पथ से पतित करने वाला आकर्षण न हो।

३. **निर्विचिकित्सा**–इसका अर्थ है कि शरीर के दोषों पर दृष्टि न रखते हुए आत्मा के सद्गुणों से प्रेम करना। गुणदृष्टि और गुणानुराग ही निर्विचिकित्सा का प्रधान उद्देश्य है। निर्विचिकित्सा का एक अर्थ यह भी है कि मन में यह विकल्प नहीं रखना चाहिये कि मुझे मेरी साधना का फल मिलेगा या नहीं। इसका एक यह भी अर्थ किया जाता है कि संयम परायण एवं तपोधन मुनि मलक्लिन्न, कृशतन और वेश को देख कर ग्लानि न करना।

४. **अमूढ़दृष्टिता**–जीवन में विवेक स्थिर करने के लिये मूढ़ता का परित्याग करना परमावश्यक है। शास्त्रों में अनेक प्रकार की मूढ़ताओं का वर्णन किया गया है–लोकमूढ़ता, शास्त्र-मूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता।

(अ) **लोकमूढ़ता** में उन सभी पापों का समावेश हो जाता है जो लोक एवं समाज की अंध-श्रद्धा के बल पर चलते हैं। समाज में प्रचलित रूढ़ियां भी लोकमूढ़ता का ही एक रूप हैं।

(ब) **शास्त्रमूढ़ता**–सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी शास्त्र को तब मानता है जबकि वह उसकी कसौटी कर लेता है। जब एक व्यक्ति कहता है कि मेरी संप्रदाय का शास्त्र ही सच्चा है, अन्य सब झूठे तो यह भी एक प्रकार की शास्त्रमूढ़ता ही है।

(स) **देव मूढ़ता**–विकारों के पूर्ण विजेता और वीतरागी देव को देव न मान कर विकारी देव को देव मानना, देवमूढ़ता है

(द) **गुरुमूढ़ता**–साधनाभ्रष्ट और चरित्रहीन व्यक्ति को गुरु मानना गुरुमूढ़ता है। इसका यह भी अर्थ लिया जाता है कि परीक्षा के बिना ही हर किसी को गुरु स्वीकार कर लेना और फिर स्वार्थ सिद्ध न होने पर परित्याग कर देना और किसी अन्य को अन्धभाव से गुरु बना लेना गुरुमूढ़ता है यह भी त्याज्य है।

५. **उपबृंहण**–इसका अर्थ है वृद्धि करना, बढ़ाना या पोषण करना। न अपने सत्कर्म की अवहेलना करनी चाहिये और न दूसरे के सत्कर्म की। जहां तक हो सके सद्गुणों एवं सत्कर्मों को बढ़ावा देना चाहिये। उपबृंहण शब्द के स्थान पर उपगूहन शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है "छिपाना"। सम्यग्दृष्टि को ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये जिससे धर्म और उसकी संस्कृति की लोकनिन्दा हो। कदाचित् किसी कारण से धर्म की अवहेलना होती भी हो, तो उसे दूर करना ही उपगूहन कहा जाता है। परदोष दर्शन की प्रवृत्ति बड़ी ही भयंकर है। दूसरों के दोषों का सुधार तो करना चाहिये, परन्तु उसकी निन्दा के ढोल नहीं बजाना चाहिये। दूसरों के दोषों का उपगूहन करके उसके गुणों का आदर करो, उसके गुणों की अभिवृद्धि करो, यही उसका प्रधान उद्देश्य है।

६. **स्थिरीकरण**–इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति अपने धर्म के मार्ग से गिर रहा हो तो उसे सहारा दे कर फिर धर्म में स्थिर कर देना। संघ में जो व्यक्ति निर्धन हैं, और अभावग्रस्त हैं और जो अपनी अभावग्रस्तता के कारण अथवा अपनी निर्धनता के कारण, अपनी संस्कृति या अपने धर्म से हट रहे हैं, उनकी समस्याओं को सुलझा कर और उनके मानसिक विकल्पों को दूर करके पुनः धर्मपथ पर लगा देना ही स्थिरीकरण का अभिप्राय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. **वात्सल्य**–इसका अर्थ है प्रेम और स्नेह। जिस प्रकार व्यक्ति अपने कुटुम्ब पर स्नेह और प्रेम रखता है, उसी प्रकार समाज के हर व्यक्ति पर प्रेम और स्नेह रखना ही वात्सल्य भाव है।

८. **प्रभावना**–प्रभावना का अर्थ है महिमा और कीर्ति। जिस कार्य को करने से अपने धर्म की महिमा हो और कीर्ति बढ़े, वह प्रभावना है। प्रभावना का कोई एक मार्ग और कोई एक पद्धति नहीं हो सकती। ज्ञान का प्रचार करने से, सदाचार को पवित्र रखने से तथा लोगों के साथ मधुर व्यवहार करने से धर्म की महिमा बढ़ती है। स्वयं द्वारा शुद्ध आचार पालन करना और दूसरों को शुद्ध आचरण पालन करने के लिए प्रेरित करना, यह भी प्रभावना का एक अंग है। त्याग, तपस्या और संघ सेवा भी प्रभावना का एक अंग है।

मन से, वचन से और काया से दूसरों को पीड़ित करना, तीन प्रकार का दंड है। माया, निदान और मिथ्यात्व ये तीन शल्य हैं। धन-संपत्ति या ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति का घमंड, रसना-इन्द्रिय की संतुष्टि का घमंड, सुख प्राप्ति का घमंड, ये तीन गौरव हैं तथा जाति, कुल, सौंदर्य, शक्ति, लाभ, श्रुतज्ञान, ऐश्वर्य और तपस्या, ये आठ प्रकार के मद हैं। इन १७ प्रकार के दोषों में से तीन प्रकार के गौरव तथा आठ प्रकार के मद ये अहंकार कषाय रूप हैं। तीन प्रकार के दंड क्रोध-कषाय रूप हैं, तीन प्रकार के शल्य माया तथा लोभ कषायरूप हैं। अतः सम्यक्त्व की दृढ़ता के लिए इन दोषों का त्याग करना आवश्यक है।

सम्यग्दृष्टि के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है–निर्भयता। जहां भय है, वहां धर्म नहीं रह सकता, संस्कृति नहीं रह सकती। शास्त्र में कहा है कि जो व्यक्ति सत्य की साधना करना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने मन से भय को दूर कर दे।

सम्यग्दर्शन ही अध्यात्म साधना का दिव्य आलोक है, जिससे जीव अपने सहज स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है। अतः मानव-जीवन की पवित्रता और पावनता का एक मात्र मूल आधार सम्यग्दर्शन ही है। जैन दर्शन के अनुसार जीवन मात्र के विकास का बीज सम्यग्दर्शन ही है।

संदर्भ–

१. अध्यात्म-प्रवचन, उपाध्याय अमरमुनि।
२. अध्यातम-सार, उपाध्याय यशोविजयजी।
३. तत्वार्थ सूत्र, उमास्वाति, विवेचनकर्ता पं. सुखलालजी संघवी।
४. वल्लभ-प्रवचन (द्वितीय भाग) संपादक मुनि नेमिचन्द्र।
५. उत्तराध्ययन सूत्र, एक परिशीलन, डा. सुदर्शनलाल जैन।
६. आत्मानुशासन, आचार्य गुणभद्र।
७. उत्तराध्ययन, सूत्र संपादक साध्वी चंदना दर्शनाचार्य।
८. मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ। ☐

(जैन समाज की दिशा : उत्थान या पतन; पृष्ठ १४६ का शेष)

देना तो दूर, हम और हमारे धर्मगुरु स्वयं उसमें लिप्त हो जाते हैं। क्या ये आचरणहीन प्रवृत्तियां समाज को गर्त में नहीं धकेल रही हैं। इसका भविष्य क्या होगा। इसके पीछे कुछ पेशेवर लोग हैं, जो एक दूसरे को नीचा दिखाने का शौक रखते हैं। समाज की एकता की कीमत पर उनका शौक पूरा हो रहा है।

समाज का अगला दुर्गुण है कि हम एक समाज सेवी को सम्मान नहीं दे रहे हैं। कोई इस समाज की सेवा में अपना तन, मन अर्पण कर देता है, इसे शीश काटकर अर्पण कर देता है, उसे शाबाशी नहीं, आलोचना मिलती है। इसलिये आज समाज सेवा का क्षेत्र संकुचित रह गया है। समाज सेवा शब्द का सरेआम उपहास होता है, क्यों यह क्षेत्र इतना बदनाम हुआ ? कारण फिर वही पेशेवर लोग या वे ही ठेकेदार हैं जो समाज सेवा का मात्र लबादा ओढ़ लेते हैं, समाज उनसे हिसाब मांगता है, तो झगड़े हो जाते हैं। समाज में फूट पड़ जाती है, और ये ही बातें वास्तविक समाज-सेवियों के प्रति कटुता पैदा करती हैं। दुर्भाग्य देखिये हमारा। धर्म आचार प्रधान होते हुए भी समाज अर्थ प्रधान बना हुआ है। रात के अन्धेरे में जो पूंजीपति धर्म, इसके सिद्धान्तों का मजाक उड़ाता है वह दिन के उजाले में सामाजिक सम्मान का दावेदार है। वह समाज की तश्तरी में सम्मान रूपी खाना खा रहा है, और एक निःस्वार्थ समाज सेवी समाज के लिये मर खप कर भी उस तश्तरी से कभी खाना हासिल नहीं कर सकता है।

एक अन्य बात यह है कि हम अपने समाज के प्रति उदासीन हैं, अपनी मांगों, अधिकारों के प्रति रत्तीभर सचेष्ट नहीं हैं, आन्तरिक विवाद में जितना आगे है, अधिकारों की लड़ाई में उतना ही पीछे।

इसलिये साथियो, आगे आओ, हम पुरुषार्थ करेंगे। पुरुषार्थियों का साथ देंगे। समाज में काम करते हैं, तो होता है, करने वाले थक जाते हैं, तो कार्य ठप्प। कार्य रोकना नहीं है, तो इस समाज में जन्म और जीवन लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उसे विकसित करे। इसके लिये हमें एक सामूहिक मंच तैयार करना है। कोई भी अकेला व्यक्ति कोई खास कार्य नहीं कर सकेगा, लेकिन इस मंच के जरिये वह अपनी भावनाओं के अनुसार समाज का श्रृंगार कर सकेगा। समाज को बदलना है, इसकी मांग से पुराना सिन्दूर निकाल कर फिर से नया भरना है, नवीन जागरण का सिंहनाद करना है, समाज नई क्रान्ति दर्शन के लिये तत्पर खड़ा है, समाज को उत्थान की गंगा से स्नान करवाना है, क्रान्ति का बिगुल बजाना है, समाज को ऊंचा उठाना है, प्रगति के नये मार्गों का शुभारम्भ करना है, नहीं तो हमारा भविष्य मात्र एक प्रश्न वाचक चिन्ह बन कर सामने आयेगा।

☐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org